

हिन्दी बालसाहित्य की मुश्किलें

सुशील शुक्ल



वक्त के बीतने के साथ उसका खारापन कम होता रहता है। बेहद संघर्षों में निकला वक्त भी गुज़रकर नरम पड़ जाता है। और जब हम उसे याद करते हैं तो उसमें थोड़ी-बहुत मिठास आ ही जाती है। अगर यह बात बीत चुके सुदूर के वक्त की हो तब तो संघर्ष यादों में पड़े-पड़े मिठा ही जाते हैं। और फिर एक दिन याद करते हैं - फलाँ मास्टर साब कान पकड़ के मुर्गा बना देते थे। बड़ा मज़ा आता था। पाँच-छह मुर्गे रोज़ बन जाते थे। बहुत मारते थे पर पढ़ाते अच्छा थे। रटा डालते थे पूरा पाठ। अब देखो, उस समय की कविता - उठो लाल अब आँखें खोलो - आज तक याद है। इन वाकयों को हँसकर याद करते वक्त हमारे मन में अक्सर उन दिनों के संघर्ष की झुरझुरी नहीं दौड़ती। वे दिन जब स्कूल जाने वाले रास्ते बेहद जल्दी बीत जाते थे। हम सोचते रहते थे कि वे अभी थोड़ी देर और न बीतें। फलाँ मास्टर से थोड़ी और देर बचा जा सके। लेकिन हम जब बचपन को याद करते हैं तब हमें यह डर, रोज़-रोज़ की मौत, मन में लग रही फफूँद कुछ याद नहीं आता।

लगता है यही वो जगह है जहाँ बाल साहित्य की मुश्किलें अपनी जड़ें फैलाती हैं। विकसती हैं। बड़ों के मन में बचपन की, बच्चों की नकली छवि। रुमानी छवि। *बचपन हर गम से बेगाना होता है* वाली छवि। *बचपन के दिन भी क्या दिन थे* वाली छवि। दौलत-शोहरत सब देके वो कागज़ की कश्ती, वो बारिश के पानी को पाने वाली छवि।

लगता है बालसाहित्य के सन्दर्भ में हम पूरे बारह-पन्द्रह वर्ष बच्चों को एक कृत्रिम दुनिया में बनाए रखते हैं। लिजलिजी भाषा में उनसे बात करते

हैं। परियों, राजाओं, और सुन्दरवनों की ऐसी दुनिया जहाँ कोई दुख नहीं है। सब कुछ अच्छा है। और अगर वहाँ दो-चार मिनिट के लिए कोई कंफ्लिक्ट (द्वंद्व) पैदा भी होता है तो वह भी लगभग उघड़ा हुआ अन्त लेकर। अनप्रेडिक्टेबिलिटी (पहले से कोई अनुमान न लगाया जा सकना) के लिए वहाँ कोई जगह नहीं होती। वहाँ आम जीवन की तरह लोग नहीं होते। उनकी मुश्किलें नहीं होतीं। कोई लड़ाई-झगड़ा, जाति-पाँति, धर्म, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव नहीं होता है। मृत्यु, प्रेम आदि के लिए वहाँ कोई जगह नहीं होती है। वहाँ धोबी नहीं होते, नाई नहीं होते, मोची नहीं होते। झुग्गियाँ नहीं होतीं। मज़दूर नहीं होते हैं। रिक्शे चलाने वाले नहीं होते हैं। बस, सुख के माहौल में बच्चे बर्थ-डे आदि मनाते हुए अपना जीवन गुज़ारते हैं।

जबकि बच्चे अपने जीवन में अपने आसपास घट रही तमाम घटनाओं का सामना करते हैं। उन पर सोचते हैं। कहानी-कविताओं के सुकून भरे माहौल के उलट अपने जीवन में बच्चे देखते हैं उन्हें स्कूल ले जाने वाले रिक्शे वाले को, स्कूल के रास्ते में रोज़ सड़क बुहारते लोगों को। हमेशा ही घर के काम निपटाने में लगी रहती माँओं, बहनों और औरतों को। ऑफिस से चले आए चाय माँगते मर्द रूपी सर्वाधिकार प्राप्त पिताओं को। बच्चे मास्टर जी से सुनते रहते हैं - अरे, ठीक से पढ़ लो वरना 'इनकी' तरह ढोर चराओगे। कथा-कविताओं में अक्सर नदारद रहने वाले कुछ बच्चों के मन में यह 'इनकी' नाम की कील लगातार आर-पार होती रहती है पर हम बच्चों को वही दुनिया अपनी कथाओं में, कविताओं में सुनाते रहते हैं — *एक लोमड़ी थी। तो राजा ने तय किया कि राजकुमारी की शादी उसी युवक से की जाएगी।* या *एक गरीब लकड़हारा था। पर था बहुत ईमानदार।*

यह माना जाता है कि पाठक साहित्य पढ़ते हुए किसी-न-किसी पात्र के बेहद करीब चला आता है। शायद वह उससे खुद को जोड़कर देखने लगता है। कहा तो यह भी जाता है कि हर अच्छी रचना में एक कोना अधूरा होता है और जिसे पाठक समझकर भरता है या पूरा करता है। पुरुष गाथाओं से खचाखच भरे बालसाहित्य में अक्सर नदारद रहने वाली लड़कियाँ, महिलाएँ, हाशिए पर रहे आए बहुसंख्यक समाज के बच्चे किन पात्रों से खुद को जोड़कर देखते होंगे? हिम्मत



पाते होंगे?

अमूमन, बच्चे अपने लिए किताबें नहीं लिखते। बल्कि वे अपने लिए किताबें चुनते भी नहीं। ये दोनों काम बड़ों के ज़िम्मे बने रहते हैं। और बड़ों के मन में बचपन की आधी-अधूरी अवधारणा इस ज़िम्मेदारी को पूरा करने में बाधा पैदा करती लगती है।

बच्चों के लिए लिखना बड़ों के लिए लिखने से किस मायने में फर्क होता होगा?

बड़ों के लिए लिखते वक्त हमारा पूरा ध्यान स्वयं को अभिव्यक्त करने या उसे लिखकर तलाश करने में लगा होता है। कहते हैं कि पाठक इसी तलाश का गवाह बनकर पढ़ने का आनन्द उठाता है। इसी तलाश और अनजाने को लिखकर खोज लेने, पा लेने का आनन्द पाठक को रचना में मिलता होगा। तो इस विचार से साहित्य लिखने से एक रास्ता आज़ादी की चाह की तरफ जाता दिखता है। जब हम बच्चों के लिए लिखते हैं तब अक्सर यह तलाश न तो लेखक को नसीब होती है और इसलिए न ही उसके पाठक को।

बच्चों के लिए लिखते वक्त कई चीज़ें ध्यान में रखना ज़रूरी है ऐसी मान्यता है। जैसे, विषय क्या हो। बच्चे के मन में उसे समझ पाने के लिए ज़रूरी अवधारणाएँ विकसित हो चुकी होंगी या नहीं। भाषा का सजग इस्तेमाल। बच्चों की उमर आदि को ध्यान में रखकर भाषा का चुनाव करना। बच्चे के परिवेश आदि को समझना। कुल मिलाकर हमारा पूरा ध्यान बच्चे पर, उनके इर्द-गिर्द पर



केन्द्रित रहता है। बच्चे और उसके इर्द-गिर्द सोचते वक्त बार-बार हमें बचपन और बच्चे के बारे में अपनी अवधारणा का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए अभिव्यक्त कर पाने में या मन की बात को तलाशते हुए कोई रचना करने में जाने वाला ध्यान असल में कहीं और बँट जाता है। शायद इसलिए ही बच्चों के लिए हो रहा अधिकांश लेखन सतही बना रह जाता है। परिवेश, उमर और बचपन जैसी दर्जनों बातों को ध्यान में रखते हुए भाषा और विचार की स्वाभाविक जुगलबन्दी को हम बार-बार बाधा पहुँचाते हैं। और शायद इसलिए बच्चों के लिए लिखे जाने वाले साहित्य की भाषा आत्मीय और स्वाभाविक होने की बजाय कृत्रिम होती चली जाती है। स्कूली किताबों में या बच्चों के लिए कार्यशालाओं आदि में रची जाने वाली किताबों में तो स्थिति और भी गौरतलब है। वहाँ, कितने शब्द होंगे। कौन से शब्द होंगे। कितने वाक्य लिखने हैं। उनकी लम्बाई कितनी हो। कहीं संयुक्त अक्षर न आ जाए। और इस

तरह अक्सर बच्चों के लिए गनपट उठ, खटपट मत कर। चल नल पर चल। किस्म की अर्थहीन-रसहीन रचनाएँ होती चली जाती हैं। शायद हम भूल जाते हैं कि भाषा व इसे पढ़ना सीखने में अर्थ का भी एक हिस्सा होता है। इस किस्म की पाबन्दियों में ढलकर आई भाषा की ज़रूरत 'हमारे हिसाब से' उस छह साल के बच्चे के लिए होती है जो हमारे साथ जीवन जी रहा है। अपनी ज़रूरत लायक भाषा इस्तेमाल कर रहा है। सुन रहा है। समझ रहा है। और खुद को अभिव्यक्त कर रहा है। हम चाहे इससे अनजान रहें पर वह दुनिया को देखकर, सुनकर, छूकर समझने की कोशिश कर रहा है। और बहुत बारीकी से। शामिल होकर। वह पत्ते को शायद ऐसे देख रहा है जैसे किसी मनुष्य ने पत्ते को सबसे पहली बार देखा होगा। एक ही शब्द को खींचकर, खुला छोड़कर अलग-अलग ध्वनियों में उच्चारकर अलग-अलग अर्थों में इस्तेमाल कर रहा है। उदाहरण के लिए *नहीं* शब्द का ही इस्तेमाल बच्चे दर्जनों तरह से करते हैं। इन्हीं मान्यताओं की वजह से हमारे पास आज हिन्दी पढ़ना सीख रहे बच्चों को देने के लिए सौ-डेढ़ सौ अच्छी किताबों तक का टोटा है। कुल मिलाकर इस प्रकार के कार्यकलापों से लगता है कि हम बच्चों को, बचपन को समझने में चूक रहे हैं।

कभी-कभी लगता है कि लेखक अपने मन में बच्चे की एक छवि बना लेते हैं कि बच्चे ऐसे होते हैं। असल में बच्चे कैसे होते हैं, एक लाजवाब सवाल है। अगर हमें पता होता कि बच्चे ऐसे होते हैं या इन्सान ऐसे होते हैं तो शायद साहित्य लिखने की ज़रूरत ही न रहती। साहित्य इस सवाल के इर्द-गिर्द ही तो यात्रा करता है। और साहित्य का सारा आनन्द इसी यात्रा के अनुभव में होता है। बच्चों के साहित्य में इस यात्रा का अनुभव देने में समर्थ किताबें बेहद कम हैं।

अब ज़रा देखें कि बच्चों को उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए हमारे समाज में कितनी जगह और मौके उपलब्ध हैं। इस पक्ष पर इसलिए विचार करना ज़रूरी लगता है कि बच्चों को, बचपन को समझने का यह एक सीधा रास्ता हो सकता है। लेकिन हमारे स्कूलों, घरों में यह जगह बेहद कम है। स्कूलों में तो सबसे अच्छा छात्र या छात्रा वही मानी जाती है जो चुपचाप अपने काम में लगी रहे। जो स्कूल सबसे शान्त होता है माना जाता है वहाँ पढ़ाई का माहौल है। स्कूली किताबों में बच्चों के लिए कोई जगह नहीं। उनमें स्याही का ज़रा-सा निशान भी न तो टीचर को मंज़ूर है, न माता-पिता को। पवित्र चीज़ हैं स्कूली किताबें। जिन्हें बस देखा जा सकता है। जिनसे सुना जा सकता है पर उनमें शामिल नहीं हुआ जा सकता है। पाठ पढ़के सवालों के जवाब भी उसी किताब के किसी एक हिस्से से जस के तस उतार

लेना है। यानी आम तौर पर स्कूलों में बारह महीने बच्चों को अभिव्यक्ति के सूखे का सामना करना पड़ता है। बाल दिवस आदि इक्के-दुक्के मौकों पर भी बच्चों को क्या गाना है, बोलना है, कैसे बोलना है आदि सब तयशुदा होता है। दूसरी तरफ समाज है जहाँ जब बच्चा दो साल का होता है तब से उसे माता-पिता के सपनों का बोझ उठा लेना पड़ता है। वहाँ *बड़ों के सामने नहीं बोलना*, *बड़ों को जवाब देते हो* जैसे मुहावरे हैं। स्कूल की मुश्किलों की बातचीत भी घर में नहीं की जा सकती है।

मुझे बच्चों की एक पत्रिका से जुड़े होने की इस बात पर खुशी भी है कि पाबन्दियों और नसीहतों से लबालब दुनिया में वह आज़ादी का एक छोटा-सा कोना बच्चों को देती है। कहीं से भी पढ़ने का, खत्म करने का। कहीं से उलटने-पलटने, पटकने, किसी भी पन्ने पर कलम चलाने की आज़ादी। सवाल-जवाबों के बोझ से मुक्त किताब। उसमें स्कूली किताबों की तरह पवित्रता का भाव नहीं रहता। बच्चों के लिए स्कूली किताबों के अलावा भी कोई किताब खरीदते बड़ों को देखना कम होता है। पर इस कम में भी, इतने दिनों काम करने के बाद, यह एहसास-सा हुआ जैसे वे पत्रिका की बजाय बच्चों के लिए एक कहानी-कविता की किताब खरीद देना पसन्द करते हैं। क्या उनके अवचेतन में पत्रिका की आज़ादी की बात होगी? क्योंकि किताब देख-परखकर ली जा सकती है। बच्चों के बिगड़ने के और अपनी पढ़ाई खराब कर लेने के अवसर उसमें कम हैं पर पत्रिका एक आज़ाद चीज़ है। उसमें अगले महीने किस विषय पर कौन-सा लेख आएगा, यह बड़ों की पकड़ में नहीं है।

बहरहाल, कहना यह चाहता हूँ कि बड़ों के मन में बच्चों व बचपन की दोषपूर्ण छवि हमारे समय में पैदा हो रहे सतही साहित्य की मुश्किलों को बढ़ाने में मुख्य भूमिका निभाती है।

अब ज़रा बच्चों की नज़र से बचपन को देखते हैं। वहाँ न तो विषयों का अकाल है न ही भाषा का सीमित इस्तेमाल। हमारे स्कूल वर्ष मानक भाषा के इस्तेमाल की पैरवी करते रहे। पर बच्चों की हिन्दी उनकी अपनी भाषाओं मालवी,



आकांक्षा, दिल्ल

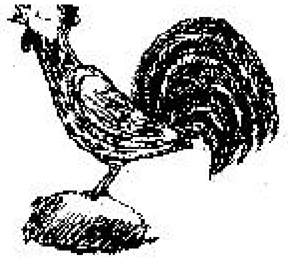
बुन्देली या किसी अन्य भाषा से महकती रही। हम भूल गए कि जब हम बुन्देलखण्डी के एक शब्द को जगह देते हैं तो जैसे हम बुन्देलखण्ड में रह रहे लोगों को सांकेतिक जगह देते हैं। और एक तरह से कह रहे होते हैं कि इस पृथ्वी पर हम मिलकर रह रहे हैं और रहते रहेंगे। यह एक शब्द असल में एक भाषा की दूसरी भाषा को लिखी छोटी-सी चिट्ठी होती है।

बहरहाल, बच्चों की रचनाओं में हमारी मान्यताओं के उलट मौत, डर, प्रेम, दंगे, युद्ध, जीवन के संघर्ष -सभी विषय लिखने-पढ़ने लायक बने रहते हैं। बच्चों की रचनाएँ बचपन की ज़्यादा गहरी, जीवन से जुड़ी, असल छवि उभारती नज़र आती हैं। नमूने के तौर पर मैं यहाँ चकमक के विभिन्न अंकों में प्रकाशित बच्चों की कुछेक रचनाएँ पेश करना चाहता हूँ।

***

मुर्गा बेच दिया

मेरे अब्बा एक मदरसा चलाते हैं। मदरसे में अरबी उर्दू के साथ-साथ हिन्दी, गणित और अन्य विषय भी पढ़ाते हैं। हमारे मदरसे में मुर्गी पालन करने वालों के बच्चे भी पढ़ने आते हैं। उनसे मुझे मालूम हुआ कि उनके यहाँ अण्डों से बच्चे निकल आए हैं और एक चूज़ा ढाई रुपए का है। मैं अपने अब्बा से कहे बगैर, अम्मी से पाँच रुपए और एक डिब्बा लेकर अण्डे वालों के यहाँ चूज़े लेने गया।



मेरे अब्बा को जब यह मालूम हुआ तो वे बहुत गुस्सा हुए और अण्डे वाले के यहाँ पहुँचे। मैं दूसरे रास्ते से घर आ गया। घर आकर उन्होंने मेरी पिटाई की। चूज़े वापस ले जाने को कहा। हमारे पड़ोसी ने यह देखकर दोनों चूज़े रख लिए और पाँच रुपए देकर शाँति की।

हमारे पड़ोसी के यहाँ एक चूज़ा मर गया। उन्हें अपना मकान छोड़ना था। दूसरा मकान मालिक ब्राह्मण था। वह अण्डे, मुर्गी, माँस, मछली खाने वालों को मकान किराए पर नहीं देता था। इसलिए पड़ोसी वह चूज़ा मुझे मुफ्त में देकर चले गए। मैं बहुत खुश हुआ और अब्बा का पता नहीं कि वह खुश हुए या नाराज़। मुझे लगता है कि वह नाराज़ हुए होंगे।

अब मैं, मेरा छोटा भाई और मेरी अम्मी रोज़ उसको दानी-पानी देते। साफ-सफाई करते। इस तरह छह महीने हो गए। अब चूज़ा बड़ा हो गया।

हम सबको शादी में जाना था। सब सोचने लगे कि मुर्गे का क्या करें। पास-पड़ोस वाले भी शादी में जा रहे थे। तो मेरे पापा उसे पास के हाट-बाज़ार में ले गए और पचास रुपए में बेच दिया। मुझे उसका दुख है।

-हबीब अनवर राही, आठवीं, नीमच, म. प्र.

ऐसा भी होता है...

मैं बस स्टॉप पर खड़ा था। वहाँ पर एक फलों से भरा ठेला खड़ा था। उसी के पास उस ठेले का मालिक खड़ा था। कुछ देर बाद एक बूढ़ी महिला वहाँ आई। उसने ठेले मालिक से ठेले के एक कोने में पड़ा सड़ा-सा फल माँगा। मगर उस आदमी ने उसे वहाँ से भगा दिया। वह महिला बेचारी वहाँ से चली गई।

कुछ देर बाद एक हवलदार वहाँ आया। बहुत सारे फल तुलवाए और पैक करवाने के बाद उस आदमी से बोला, “ए, पैसा दूँ?”

वह आदमी बोला, “अरे कोई बात नहीं। रहने दीजिए।”

-विजय बड़गुजर, देवास, म. प्र.



फरहान

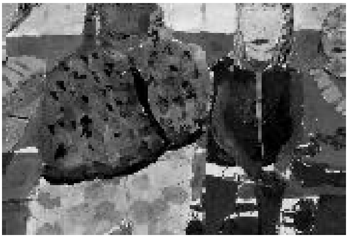


रितिका, 3 वर्ष, होशंगाबाद

चण्डीगढ़ में बम नहीं गिरेगा

चण्डीगढ़ में बम नहीं गिरेगा
जंग तो कारगिल में चल रही है न!
अगर चण्डीगढ़ में गिरे भी तो
सैनिक अड्डों पर ही गिरेगा
वो तो चण्डीमन्दिर और सेक्टर में हैं
मैं ज़िन्दा रहूँगी!
वैसे चण्डीगढ़ पाकिस्तान में होता तो
क्या हो जाता
लोगों का सुखी रहना ज़रूरी है!
मैं मरना नहीं चाहती!
दुनिया के उन इलाकों में जहाँ जंग नहीं है
बच्चे बड़े होंगे
मेरे यहाँ बम गिरेगा
तो मैं मर जाऊँगी
मैं मरना नहीं चाहती!

-शाना, आठ वर्ष, चण्डीगढ़

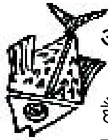


आशना चेवली, 10 वर्ष, सूरत

मन में भय

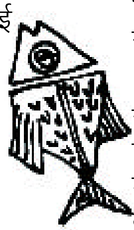
दंगे फसाद हुए मारकाट हुई
दंगे में कर्फ्यू के दौरान
कर्फ्यू में मिली ढील
माँ बेटे से बोली,
"बेटे दाढ़ी कटवा लो,
तुम्हें कोई मुसलमान
समझकर मार डालेगा।"
बहन बोली, "नहीं भइया,
दाढ़ी मत कटवाना, तुम्हें
कोई हिन्दू समझकर मार डालेगा।"
बाप अपने छोटे बेटे से बोला,
"बेटा स्कूल मत जाना, तुम्हें
कुछ भी हो सकता है।"
स्कूल जाते हैं
जाते-जाते मन में भय भरा रहता
कहीं कुछ गड़बड़ ना हो जाए।
कहीं कोई झगड़ा ना हो जाए।

-पंकज कुमार झा, नवीं,
टीला जमालपुरा, भोपाल, म. प्र



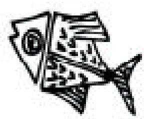
अब मैं मच्छी को धन्धो करत हों

हम पाँच भाई हैं और तीन बहिन हैं। भाइयों में सबसे छोटा मैं हूँ। और बहिनों में सबसे छोटी प्रभा है। पहले हमारो डुकरा मच्छी लेवे हर दिन नदिया जात थो। हमारो घर मछलियों से पलो है। और थोड़ी-सी खेती-किसानी भी थी। और हम मच्छी बेचत थे गाँव में।



अब हमरो डुकरा मच्छी लेवे नदिया नहीं जाए। अब मैं मच्छी को धन्धो करत हों, मनो मोहे गाँव हे जावे में शरम लगत है। आदमी मोसे कहते हैं, तीन रुपइया पाव दे दो। बज़ार में छै रुपइया पाव बिकत है। ऐसे कह देत है मानो फिरी की लानी है। जैसे इनको बाप हमें देके गओ है। मोहे बेजा गुस्सा आत है। कुई कहत है कि पिसी के दे दो, और कुई कहत है उधार दे दो। मैं मच्छी उधार नहीं देऊँ। फिर आदमी पैसा नहीं दे, खा जात हैं। अगर मच्छी नहीं बिकी तो घर में ले जा के बनाके खा ले हों। और फिर ताजी मच्छी मार के और बासी मच्छी मिलाके भुनसारे बेच आत हों। फिर बिक जात हैं।

-मनमोद, पलिया पिपरिया, पिपरिया



सुशील शुक्लः 'चकमक' पत्रिका से सम्बद्ध हैं।
सभी चित्र व सज्जाः कनक शशिः भोपाल में रहती हैं और स्वतंत्र कलाकार के रूप में पिछले एक दशक से बच्चों की किताबों के लिए चित्रांकन कर रही हैं।